Research Paper | Social Science | E-ISSN No : 2454-9916 | Volume : 7 | Issue : 3 | Mar 2021

BHARTIYA SANSKRITI KA ABHINNANG: YOGA

भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग : योग

Dr. Hemlata Joshi

सहायक आचार्य, योग एवं जीवन विज्ञान विभाग जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, (राज.)

ABSTRACT

मानव के विकास में संस्कृति का विशेश योगदान होता है। इसलिए संस्कृति में उन तत्त्वों का समावेश अति आवश्यक है जो उसे प्राणवान बनाते हैं। इससे स्पश्ट होता है कि एक नहीं अपितु कई तत्त्व मिलकर संस्कृति का निर्माण करते हैं और उसे आगे बढ़ाते हैं। अतः जब संस्कृति में प्राण तत्त्व हो, क्रिया शीलता हो और उसमें सुवास हो तो वह संस्कृति वास्तव में अनुपम बन जाती है, श्रेश्ठ बन जाती है और सदैव मानव विकास में सहयोगी बनती है। सौभाग्य से भारतीय संस्कृति अपने भीतर समेटे हुए अथाह संपदा के कारण अनुपम है, श्रेश्ठ है जिससे सदियों से वह अक्षुण्ण बनी हुई है। भारतीय संस्कृति की इस संपदा में बहुमूल्य रत्न हैं जिनके पीछे यहां का दर्शन है। इस दर्शन ने ही भारतीय संस्कृति को अनेक विशेशताओं से पूर्ण बनाया जिसका प्रभाव देश–देशांतर तक है। भारतीय संस्कृति में एक अमूल्य रत्न है यहां का योग दर्शन जिसने मानव को महामानव बनाने में, पशुत्व से दिव्यत्व प्रदान करने में, इहलोक से परलोक की यात्रा में अपनी महती भूमिका अदा की है। अतः योग दर्शन मात्र विचार ही नहीं अपितु प्रयोग भी है, अध्यात्म ही नहीं अपितु विज्ञान भी है जो मानव में छिपी अनंत भाक्तियों को उजागर करने में सहायक है, सुख–शांतिपूर्ण जीवन जीने में सहायक है, आध्यात्मिक विकास में सहायक है। अतः योग दर्शन भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है जो उसे प्राणवान ही नहीं बनाता है अपितु उच्च कोटि के जीवन दर्शन में भी अति महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

कुंजी भाब्द ॥ संस्कृति, दर्शन, योग, मूल्य, संस्कार।

सामान्यतया संस्कृति व्यक्ति के जीने का, रहन–सहन का ढंग है। यह व्यक्तिशः भिन्न होती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति की, प्रत्येक परिवार की, प्रत्येक समाज की, प्रत्येक राज्य की और प्रत्येक देश की संस्कृति भिन्न–भिन्न होती है। इतना होने पर भी वह अपने मूल से भिन्न नहीं होती है। इसीलिए अनेकता होते हुए भी वह एकता के सूत्र में बांधती है। इससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृति में जोड़ने का गुण पाया जाता है। भोग की अपेक्षा त्याग को महत्त्व दिया जाता है, स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ और परमार्थ को महत्त्व दिया जाता है। तभी वह संस्कृति दूर तक सुवासित करती रहती है। भारतीय संस्कृति इसका द्योतक है।

संस्कृति का निर्माण

किसी भी निर्माण के पीछे आवश्यता का होना पाया जाता है। अतः सामाजिक जीवन जीने के लिए भी कुछ आवश्यताएं, कुछ अनिवार्यताएं होती हैं। इनकी पूर्ति मानव अनेक प्रकार से करता है। इस पूर्ति के पीछे उसका मानसिक चिंतन कार्य करता है। यह चिंतन जितना ऊर्वर होता है, विकास की संभावना भी उतनी ही अधिक होती है। संस्कृति के निर्माण के संदर्भ में कहा गया है कि मनुश्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेश प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाशा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिश्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं।[1] दूसरे शब्दों में किसी देश की संस्कृति उसके युगों के आचारों एवं विचारों की परंपरा से उत्पन्न भूशणयुक्त परिश्कृत स्थिति की द्योतक होती है।[2] संस्कृति को मूल्य माना गया है। अतः कहा है कि संस्कृति स्वयं मूल्य है। जिस समय मूल्य चेतना का स्फुरण हुआ, संस्कृति का आविर्भाव भी उसी क्षण हुआ। संस्कृति मानव जीवन के विकास, विस्तार, उत्क्रमण और उद्बोधन, भाक्ति और समृद्धि के लाभ की प्रक्रिया है।[3] इससे स्पश्ट होता है कि संस्कृति के निर्माण के पीछे जो चेतना कार्य करती है, वह मूल्य चेतना है। इसी से मानव सुसंस्कृत बनता है।

इसी संदर्भ में भारतीय संस्कृति पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति की गौरवगाथा वेदों से प्रारंभ होती है। अपने जिन उदात्त सिद्धातों के कारण भारतीय संस्कृति ने विश्व मानव को अपनी ओर आकृश्ट किया है, उसके मूल स्रोत वेद ही हैं। वस्तुतः वेदों के ज्ञाता सब कुछ जानते हैं क्योंकि वेद में सब कुछ प्रतिश्ठित है। जो ज्ञातव्य अर्थ अन्यत्र है या नहीं, उस साध्य–साधनादि समस्त वर्णनीय अर्थों की निश्ठा वेदों में है।[4] रागदेश भाून्य, हिंसा, घृणा, भय विरहित, देहेन्द्रिय मन की अधीनता से मुक्त, जात्याभिमान, संप्रदायाभिमान प्रभृति संकीर्णताओं से अतीत, शुद्ध हृदय, शुद्ध बुद्धि, समाहित चित्त ऋशियों की भ्रम प्रमादादिशून्य दिव्य सत्यानुभति को केन्द्र बनाकर ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता युग युगांतरों से निर्मित हुई है। यही भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रधान गौरव है।[5] इससे स्पश्ट होता है कि भारतीय संस्कृति सत्य को केन्द्र में रखकर ही व्यवहार को निर्देशित करती है। कहन का तात्पर्य है कि जब व्यवहार सत्य पर आधारित होता है तो वह मानव को सही दिशा निर्देश देता है जो उसके भौतिक जीवन में ही नहीं अपितु अभौतिक जीवन में, आध्यात्मिक जीवन में भी उसे बंधनों से, अज्ञान से मुक्त करता है। कहा भी है कि भारतीय संस्कृति की आधारशिला है सत्य। जो सत्य नहीं है, वह हमें संस्कारवान् नहीं बना सकता। संस्कृति की परिपक्वता तो सत्य के साक्षात्कार, उसकी अभिव्यक्ति और उसकी विजय से ही प्रमाणित होती है। जहां सत्य का बोध नहीं है अथवा जहां सत्य के प्रति आग्रह नहीं है या जहां सत्य के प्रति समर्पण नहीं है, वहां पशुत्व अथवा अज्ञान किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेगा जबकि संस्कार का लक्ष्य है पशुत्व और अज्ञान से मुक्ति तथा देवत्व की उपलब्धि।[6] इससे स्पश्ट होता है कि भारतीय संस्कृति का आधार ठोस है क्योंकि इसके पीछे मूल्य चेतना है। इसीलिए कई उतार–चढ़ावों के बाद भी यह संस्कृति अपने अस्तित्व और अपनी मौलिकता को बनाए रखने में सक्षम है साथ ही यह अपने सुवास से सुदूर तक भी सुवासित करती रही है।

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति अपने आप में व्यापक है। यह अनेक गूढ़ अर्थों, मूल्यों, विशेशताओं आदि को स्वयं में समेटे हुए है। संस्कृति शब्द संस्कृत के सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु में क्तिन प्रत्यय के योग निश्पन्न होता है जो परिश्कृत कार्य अथवा उत्तम स्थिति[7], भासं! अच्छी स्थिति, सुधरी स्थिति,[8] का बोध कराता है। व्यापक अर्थ में संस्कृति मनुश्य की सहज प्रवृत्तियों,

नैसर्गिक भाक्तियों और उनके परिश्कार का द्योतक है।[9] भाशा की दृश्टि से संस्कारों की समश्टि का नाम ही संस्कृति है। विकास के पीछे संस्कारों की भाक्ति रहती है जो इसे आगे धकेलती है।[10] संस्कृति मनुश्य की उन क्रियाओं, व्यापारों और अभिव्यक्तियों का नाम है जिसे वह साध्य के रूप में देखता है। यह जीवन के उन क्षणों का नाम है जिन्हें वह स्वयं महत्त्वपूर्ण मानता है।[11] संस्कृति का संबंध मानव की अंतर्मुखी दशा से है। जिस कर्म व भाव से हमारे संस्कार सुंदर बनें, जिससे कृति की सौंदर्य तथा दिव्यतयता अधिक स्पश्टता से प्रकट हो सके, वही है संस्कृति। जो चेतना हमें उर्ध्वारोहित करती है, वही है संस्कृति का वैशिश्ट्य। भा सं सा विवेचन।[12] रामधारी सिंह दिनकर– के अनुसार संस्कृति एक आत्मिक गुण है जो मनुश्य के स्वभाव में उसी तरह व्याप्त है जैसे फूलों में सुगंध और दूध में मक्खन।[13] डा. हरद्वारी लाल भार्मा के अनुसार जो है, वह प्रकृति है और जो होना चाहिए, वह संस्कृति है। वह जीवन का संस्कार, मूल्य और गंतव्य है। 'है' से उठकर 'होना चाहिए' तक का मार्ग संस्कृति का मार्ग है। यही कारण है कि नैतिक मूल्य सब मूल्यों का आधार और संस्कृत का मुख्य सूत्र माना गया है।[14]

इससे स्पश्ट होता है कि संस्कृति मानव को सुसंस्कृत बनाने का महत्त्वपूर्ण साधन है और इसी से साध्य की भी प्राप्ति होती है। अतः इसे मानव से पृथक नहीं किया जा सकता है। मानव स्वभाव परिवर्तनशील होने से संस्कृति पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इसीलिए आव यक है कि भावों, विचारों और संस्कारों में भुद्धिकरण होना। यही भुद्धिकरण मानव को नई दिशा देने में सक्षम है। सौभाग्य से भारतीय संस्कृति के मूल में आदर्श हैं, मूल्य हैं जिनका प्रभाव कम या अधिक मानव व्यवहार में अवश्य ही दिखाई देता है। कहा भी गया है कि विचारों, मूल्यों संस्कारों के अवशेश, स्मृतियों के व्यूह हमारी कमाई हुई पूंजी है। मानव की प्रगति अथवा उत्क्रांति इसी भाक्ति का परिणाम है।[15] अतः यह स्पश्ट है कि जैसे विचार मानव मस्तिश्क में संचित होते हैं, वैसा ही व्यवहार होता है। अतः अच्छे संस्कारों, मूल्यों से ही संस्कृति को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

मूल्य सदैव मानव को एक सूत्र में बांधते हैं। मूल्यों में समायोजन का गुण पाया जाता है। कहा भी है कि समायोजन से सिद्ध होने के कारण जीवन के सारे मूल्य उसकी सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए होते हैं। अतएव इस दृश्टि से संस्कृति को मूल्यों की समश्टि होने के कारण समायोजन का रूप माना जा सकता है। अर्थात् संस्कृति समायोजन है और समायोजन का गंतव्य जीवन की सुरक्षा और समृद्धि है।[16] यह सत्य भी है कि जीवन में सुरक्षा और समृद्धि बिना मूल्य चेतना के नहीं मिल सकती है। संस्कृति मूल्य चेतना का नाम है अर्थात् मानव मूल्यों की समश्टि। मनुश्य मूल्यों से प्रेरित होता है। यही उसकी मानवता है। मनुश्य सारे आचरण, विचार, व्यवहार जीवन के मूल्यों को सामने रखकर ही करता है। प्रेरणा का श्रोत होने के कारण जहां–जहां मानव है, वहीं उसकी संस्कृति उसके साथ है।[17] अतः संस्कृति का संबंध मूल्यों से है या यों कहें कि संस्कृति स्वयं में मूल्य है। भारतीय संस्कृति सदैव गंगा के समान प्रवाहमयी एवं गति ील रही है। इसका कोई स्थाई तत्त्व ऐसा नहीं है जो अनवरत जैसा का तैसा चला करता है बल्कि यह एक गतिशील प्रवाह है जिसका रूप देश काल के साथ बदलता रहता है। विविध जाति–धर्म–संप्रदाय आदि के रंग–बिरंगे फूल भारतीय संस्कृति माला में अत्यंत मनोहारी ढंग से गुंथे हुए हैं और अपनी विविधता में भी एकता बनाए हुए हैं।[18] निश्कर्शतः सिद्ध होता है कि संस्कृति एक विचार है, संस्कार है, मूल्य है, आदर्श है जो मानव को सदैव एक सूत्र में बांधकर रखती है साथ ही उच्च स्थिति में ले जाने में, उसके सर्वांगीण विकास में सहायक ही नहीं होती अपितु अपनी महती भूमिका भी अदा करती है। इस संदर्भ में यह सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति उपर्युक्त विशेशताओं को पूरा करती है।

भारतीय संस्कृति में योग

ज्ञान–विज्ञान की जितनी भी भाशाएं हैं, उनका मूल है दर्शन। अर्थात् दर्शन से ही सभी ज्ञान–विज्ञान की भाखाएं पल्लवित, पुश्पित और फलित होती हैं। अतः जैसा दर्शन होता है वैसी रचना होती है, वैसी ही सृश्टि होती है। भारतीय संस्कृति के संदर्भ में भी यही बात सिद्ध होती है कि भारतीय दर्शन ही भारतीय संस्कृति को प्राणवान बनाने, उसे उच्चता प्रदान कराने में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से उत्तरदाई है। यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति अनेक विशेशताओं का पुंज है। इसका कारण संस्कृति के मूल में निहित दर्शन ही है। इस दर्शन की एक भाखा योग दर्शन है जो भारतीय संस्कृति को प्राणवान तथा अक्षुण्ण बनाती है। जैसे भारीर के अंग–प्रत्यंग मिलकर एक पूर्ण भारीर का निर्माण करते हैं उसी प्रकार संस्कृति में अनेक विशेशताएं मिलकर उसे प्राणवान बनाती हैं और विकास में सहायक होती हैं। भले ही वह विकास भौतिक जगत का हो या अभौतिक जगत का। एक सामान्य व्यक्ति भौतिक जीवन को जीते हुए अभौतिक जगत की यात्रा कर सके, इसके सूत्र भी हमारी संस्कृति में विद्यमान हैं।कहने का तात्पर्य है कि साध्य को पाने के लिए अनेक साधन है जो उसे लक्ष्य तक पहुंचा सकें। अतः कहा भी है कि भारतीय संस्कृति के लिए सत्य एक अनुभूति हैं–उसे बुद्धि से नहीं अपितु साक्षात्कार से जाना जा सकता है और वह अनुभूति उसके तथाकथित मानकों को आमूलतः बदल देती है। इसीलिए भारतीय मनीशियों ने ऐसी साधन भौलियों को विकसित किया जिससे आध्यात्मिक प्रेरणा से दीप्त मानव को वह मार्ग दिखाई दे जो उसे गंतव्य तक ले जाने में सहायक हो।[19]

हमारे सामने दो जगत हैं–स्थूल और सूक्ष्म, बाह्य और आंतरिक, भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत्, भोग और अपवर्ग। सामान्यतया मानव जीवन का प्रारंभ स्थूल जगत अथवा भौतिक जगत से होता है। इसलिए उसी के लिए वह सर्वप्रथम प्रयासरत रहता है और उसी में सुख–शांति ढूंढता है। यह प्रयास तब तक चलता रहता है जब तक वह तृप्त न हो जाए। जब उसे इसमें तृप्ति नहीं मिलती है तो वह ज्ञान के उच्चतर क्षेत्रों में प्रवेश कर वास्तविक सत्य को जानने का प्रयास करता है। जब उसे इस सत्य की प्राप्ति हो जाती है तो वह तृप्त हो जाता है क्योंकि उसके समक्ष सारे भेद मिट जाते हैं। उसे वास्तविक सुख, भाांति और आनंद का अनुभव हो जाता है। इससे स्पश्ट हो जाता है कि मानव चेतना सदैव पूर्णता के लिए प्रयास करती है। इस पूर्णता के प्रयास के लिए वह अनेक साधनों का उपयोग करती है जो योग के अंतर्गत ही आते हैं। वे साधन चाहे ज्ञानात्मक हों अथवा क्रियात्मक, शारीरिक हों, अथवा मानसिक आदि। इसमें योग एक है। अतः योग वास्तव में एक ऐसी विधा है जो चेतना को बद्ध अवस्था से मुक्त करती है। अर्थात् वह इंद्रिय, मन आदि के बंधन से उसे स्वतंत्र करती है, ससीम अवस्था से असीम अवस्था का परिचय प्राप्त कराती है, अीतन्द्रिय और अतिमानसिक ज्ञान को प्रस्ततु करती है। कहने का तात्पर्य है कि योग के द्वारा ही मानव और जगत के गूढ़ रहस्यों को समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है और उसे व्यक्त किया जा सकता है। उपनिशदों में इसी को ऋशि चेतना कहा गया है।

भारतीय संस्कृति में योग जीवन दर्शन का अभिन्न अंग है। प्राचीनकाल से योग परंपरा का अपना विशेश स्थान रहा है। भारत के सभी दर्शनों में योग कुछ समानता और कुछ भिन्नता लिए हुए निरंतर उतार–चढ़ावों के बाद भी अपनी अमिट छाप बनाए हुए है। ऐसा हो भी क्यों नहीं! यह जीवन को यथार्थता से परिचित कराता है, एक व्यवस्थित एवं सारगर्भित जीवन जीने की प्रेरणा ही नहीं देता है अपितु उसमें सहायक भी होता है। इसीलिए सभी दर्शन इसके कायल हैं। भारत में मुख्यतया तीन दर्शन प्रमुख है–वैदिक दर्शन, जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन। इन तीनों में योग का विशेश स्थान है। इनमें योग साधना की बात बहुत ही सूक्ष्म ढंग से आती है। साधना पद्धतियां भले ही भिन्न–भिन्न हैं पर लक्ष्य सबका एक ही है कैवल्य, मोक्ष अथवा निर्वाण। अतः तीनों परंपराओं में योग दर्शन की अवधारणा निम्न प्रकार है–

वैदिक परंपरा में योग

वैदिक परंपरा में वेदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये ज्ञान के अक्षय भंडार हैं। भौतिक और अभौतिक दोनों ही प्रकार के जीवन की व्यवस्थाएं इनमें की गई हैं। वैदिक परंपरा के अंतर्गत वेद, उपनिशद, पुराण, स्मृतियां, रामायण, गीता आदि हैं। इन सब में योग विशयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। वेदों में आत्मशुद्धि के साथ परकल्याण की भावना को महत्त्व

दिया गया है। इसीलिए वेद वाक्य मानव का मार्ग दर्शन करते रहे है। वेद में कहा है कि हे सत्य के बल से संपन्न मरुतो! तुम्हारी महिमा से वह परम तत्त्व हमारे सामने प्रकाशित हो गया। हृदय गुहा स्थित अंधकार को छिन्न–भिन्न कर दो जिससे वह अंधकार सत्य की ज्योति की नाव में डूबकर तिरोहित हो जाए। हमारी अभीश्ट ज्योति को प्रकट कर दो।[20] हे अग्निदेव यदि मैं तू हो जाऊं या तू मैं हो जाऊं तो इस लोक में तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायें।[21]

उपनिशदों को वेदांत भी कहा जाता है। इनमें अनेक विशयों पर विस्तार से वर्णन है। योग उनसे अछूता नहीं है। उपनिशदों में तत्त्वज्ञान या उसके परम साध्य तत्त्व के परम स्वरूप का साक्षात्कार ही नहीं है वरन् वहां तक पहुंचने के लिए विभिन्न रूचि के अधिकारियों के अनुकूल विविध साधनों का भी वर्णन है और साथ ही मनुश्य को ऊपर उठाने वाले उस सदाचार का भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जिसे जानकर प्रत्येक मनुश्य अपने को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर सकता है।[22] ध्यान–योग की महिमा को बताते हुए उपनिशदों में कहा है कि ध्यान ही चित्त से बढ़कर है। पृथ्वी, द्युलोक, अंतरिक्ष, जल, पर्वत, देवता, मनुश्य मानो ध्यान करते हैं। अतः जो मनुश्यों में महत्त्व रखते हैं, वे ध्यान का लाभ उठाते हैं किन्तु क्षुद्र, कहलप्रिय, चुगलखोर भी ध्यान के लाभ का अंश प्राप्त करने वाले हैं। अतः तुम ध्यान की उपासना करो। ध्यान ही उत्कृश्ट है।[23] यदि बहुयोजन विस्तीर्ण अनेक पर्वत के समान भी भारी पाप राशि हो तो भी वह ध्यान–योग के द्वारा नश्ट हो जाती है।[24] ऊंकार रूपी हंस पर आरूढ़ हो उसके चिंतन में निमग्न विचक्षण पुरुश कर्मानुश्ठान करते हुए कोटि–कोटि पापों से छूटकर बंधन मुक्त हो जाता है।[25] हृदयाकाश में अवस्थित प्रणवस्वरूप तेजोमय बिंदु का ध्यान ही परम ध्यान है।[26] जब मन इंद्रियातीत और सत्त्वादि तीनों गुणों से परे परम तत्त्व में लीन होता है तब वह उपमा रहित और अभाव स्वरूप हो जाता है। उस स्थिति में साधक को योगयुक्त कहना चाहिए।[27]

योगवासिश्ठ्य में कहा है कि संसार सागर से पार उतरने के साधन का नाम ही योग है। उस चित्त को भाांत करने वाले साधन के अर्थात् योग के दो प्रकार है– परमात्मा का यथार्थ ज्ञान और प्राण निरोध।[28] चिरकाल तक प्राणायाम के अभ्यास से, योगाभ्यास में कुशल गुरु द्वारा बताई गई युक्ति से स्वस्तिक आदि आसनों की सिद्धि और उचित भोजन से प्राण स्पंदन का निरोध हो जाता है।[29] गीता में समता तथा कार्य की कुशलता को योग माना है। गीता में स्थितप्रज्ञ की अवधारणा है। जो सुख–दुःख, लाभ–हानि आदि में सम रहता है, वहीं, स्थितप्रज्ञ है, वही योगी है। गीता में वर्णित प्रमुख योगों में ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग का विशेश स्थान है। पातंजल योग दर्शन में व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास हेतु आठ सोपनों का वर्णन किया गया है। यम–नियम से लेकर समाधि तक की यात्रा में विविध प्रयोग अपने आप में विशेश हैं। पतंजलि के योग दर्शन को तीन सूत्रों के माध्यम से जाना जा सकता है। अर्थात् इन तीन सूत्रों में पूरा योग दर्शन निहित है। जैसे–चित्त योगश्चित्तवृत्ति निरोधः–चित्तवृत्ति का निरोध योग है। अभ्यासवैराग्याभायं तन्निरोधः–अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है और तदाद्रश्टुस्वपेअवस्थानम्–तब द्रश्टा अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अतः इस पूरी प्रक्रिया में योग के आठ अंगों को महत्त्व दिया गया है।

जैन परंपरा में योग

जैन परंपरा आत्मवादी दर्शन है। आत्मा को केन्द्र में रखकर ही ध्यान–योग की क्रियाएं संपन्न होती हैं। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि आत्मा परमात्मा बन सकती है। अर्थात् आत्मा से कर्मों का मल क्षय हो जाने पर वह भाुद्ध और मुक्त बन जाती है। अतः इसी बात को ध्यान में रखकर साधुओं के लिए पंच महाव्रत यथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य तथा श्रावकों के लिए अणुव्रतों का प्रावधान है। त्रिरत्नों यथा सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चारित्र को महत्त्व दिया गया है। ध्यान के सदंर्भ में कहा गया है कि भारीर में जो स्थान सिर का और वृक्ष में मूल का का है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों में ध्यान का है।[30] ध्यान की महत्ता को बताते हुए जिस प्रकार मेघों के समूह वायु से ताड़ित होकर क्षणभर में विलय को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ध्यान रूप वायु स विघटित होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते हैं, क्षणभर में नश्ट हो जाते हैं।[31] जैन धर्म में ध्यान के चार प्रकार हैं –आर्तध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म्यध्यान और भाुक्ल ध्यान। इसके अतिरिक्त बारह प्रकार की भावनाएं हैं जिनके द्वारा स्वतः को भावित करने से भी सत्य के निकट पहुंचा जा सकता है। इनके अभ्यास से साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जैन योग का रूपांतरित और वैज्ञानिक रूप प्रेक्षाध्यान है।

बौद्ध दर्शन में योग

बौद्ध परांपरा में निर्वाण प्राप्ति हेतु कर्मों के क्षय की बात महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध परंपरा में चार आर्य हैं–सत्य–दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख मुक्ति संभव है और उसका उपाय है। दुःख मुक्ति के उपायों में अश्टांग मार्ग को प्रमुखता दी गई है। ये हैं – सम्यक दृश्टि, सम्यक् वाक, सम्यक् कर्मांत, सम्यक स्मृति, सम्यक आजीविका, सम्यक व्यायाम, सम्यक समाधि। इनके अतिरिक्त पंचशील को महत्त्व दिया गया है। उनमें हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और नशामुक्ति। बौद्ध परंपरा में समाधि हेतु भामथ और विप यना ध्यान की बात प्रमुख है। इसमें लौकिक सुख एवं आध्यात्मिक सुख दोनों को ही प्रमुखता दी गई है। हीनयान के अनुसार साधक स्थूल जगत से आरंभ कर ध्यान के बल पर सूक्ष्म जगत में प्रवेश कर जाता है। इसे भवाग्र कहा जाता है। यहां पहुंचने पर निर्वाण मार्ग सरल हो जाता है। इसी से साधक को अर्हत् पद की प्राप्ति होती है।[32] महायान का चरम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। इसके लिए समाधि की आवश्यकता होती है। इसके लिए साधक को कई भूमियों को पार करना होता है। इसके लिए ध्यान योग ही उपयोगी है।[33] समाधि की भूमियां दो प्रकार की हैं–उपचार और अर्पणा। उपचार में चित्त एकाग्र होने का प्रयास करता है और अर्पणा में वह दृढ़ हो जाता है। समाधि के विशय में चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। पांचों की एकाग्रता रहने पर प्रथम ध्यान, द्वितीय वितर्क तथा विचार, तृतीय सुख और एकाग्रता चतुर्थ चित्त भाुद्ध होता है।[34] इससे स्पश्ट होता है कि बौद्ध परंपरा में कर्म बंधन से मुक्ति हेतु, निर्वाण की प्राप्ति हेतु साधक को साधना के अनेक सोपानों से गुजरना होता है।

निश्कर्श

उपर्युक्त विवरण से स्पश्ट होता है कि जिस संस्कृति में मूल्यों की, आदर्शों की, अध्यात्म–योग की विद्यमानता रहती है, वह संस्कृति अक्षुण्ण होती है, मार्गदर्शक होती है, जीवन के यथार्थ सत्य से परिचित कराने में सहायक होती है। सौभाग्य से भारतीय संस्कृति अनेक विशेशताओं का पुंज है जो जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक जगत से परिचित कराने में सक्षम है। साधन पद्धतियां भले ही भिन्न हैं पर आस्था एक है, साध्य एक है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में अनेक विशेशताओं के साथ योग का अपना विशेश स्थान है। इस योग पद्धति में वे तत्त्व निहित हैं जो भौतिक जगत से परे, भौतिक भारीर परे सूक्ष्म तत्त्व से परिचित कराते हैं, अभौतिक जगत से परिचित कराते हैं। जीवन से जुड़े अनेक रहस्यों का उद्घाटन इसी योग साधना का फलित है। आधुनिक भौतिक विज्ञान भी जिसे नहीं खोज पाता है, मानव चेतना योग साधना के द्वारा उसे खोज लेती है। यह श्रमसाध्य अवश्य है पर जो साधना में गोते लगाता है, सत्य उसे ही प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति में ऋशि–मुनियों ने अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। एक व्यवस्थित एवं प्रासंगिक जीवन भौली सामान्य मानव के लिए प्रस्तुत की है जिससे वह भी सत्य से परिचित हो सके। इसीलिए भारतीय संस्कृति की सुवास सुदूर तक है।

संदर्भ स्थल

I. भारतीय संस्कृति, पृ. 3
II. भारतीय संस्कृति, पृ. 3
III. संस्कृति विज्ञान की रूप–रेखा, पृ. 10
IV. वेदकथांक, नम्र निवेदन
V. उपनिशद् अंक, पृ. 38
VI. भारतीय संस्कृति, पृ. 34

VII. भारतीय संस्कृति, पृ. 1

VIII. भारतीय संस्कृति के मूलाधार, पृ. 3

IX. भारतीय संस्कृति, पृ. 1

X. संस्कृति विज्ञान की रूप–रेखा, पृ. 5

XI. भारतीय संस्कृति के मूलाधार, पृ. 5

XII. भारतीय संस्कृति, सार विवेचन

XIII. भारतीय संस्कृति, पृ. 2

XIV. संस्कृति विज्ञान की रूप–रेखा, पृ. 10

XV. संस्कृति विज्ञान की रूप–रेखा, पृ. 7

XVI. संस्कृति विज्ञान की रूप–रेखा, पृ. 10

XVII. संस्कृति विज्ञान की रूप–रेखा, पृ. 3

XVIII. संस्कृति के सात सोपान, पृ. 58

XIX. भारतीय संस्कृति के मूलाधार, पृ. 7

XX. वेदकथांक, पृ. 377

XXI. वेदकथांक, पृ. 378

XXII. उपनिशद् अंक, पृ. 799–800

XXIII. छांदोग्योपशिद् (उपनिशद अंक) पृ. शश्ठ खंड, पृ. 463

XXIV. ध्यानबिंदु उपनिशद् (उपनिशद् अंक), 691

XXV. नादबिंदु उपनिशद् (उपनिशद् अंक), पृ. 693

XXVI. तेजोबिंदु उपनिशद् (उपनिशद् अंक), पृ. 692

XXVII. नादबिंदु उपनिशद् (उपनिशद् अंक) पृ. 694

XXVIII. योगवासिश्ठ, पृ. 345

XXIX. योगवासिश्ठ, पृ. 320

XXX. जैन धर्म में ध्यान पृ. 64

XXXI. जैन धर्म में ध्यान पृ. 208

XXXII. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ. 296

XXXIII. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ. 296

XXXIV. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ. 308–09

संदर्भ ग्रंथ

I. भारतीय संस्कृति, डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल, राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर, प्रथम संस्करण, 2000

II. भारतीय संस्कृति, नरेंद्र मोहन, प्रभात प्रकाशन दिल्ली, 1999

III. संस्कृति विज्ञान की रूपरेखा, डॉ. हरद्वारी लाल भार्मा, मानसी प्रका ान मेरठ, 1992

IV. वेद कथांक, गीताप्रेस, गोरखपुर

V. भारतीय संस्कृति के मूलाधार, भार्मा एवं व्यास, पंच ीिल प्रका ान, जयपुर, नवम संस्करण 2008

VI. संस्कृति के सात सोपान, 58, राघव पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997 |

VII. वेद कथांक, तिहत्तरवें वर्श का विशेशांक, गीता प्रेस, गोरखपुर सं. 2072,

VIII. उपनिशद अंक, तेईसवें वर्श का विशेशांक, सं. गीता प्रेस, गोरखपुर, 2072

IX. योगवासिश्ठ, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2073

X. जैन धर्म में ध्यान, कन्हैयालाल लोढ़ा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007

XI. बौद्ध दर्शन मीमांसा, डॉ. बलदेव उपाध्याय, चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी, 1999 |